Chap - 2

अध्याय - द्वितीय

प्रेमचंद :

राजनीतिक चेतना

क-राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की धाराएँ
ख-प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत
ग-साहित्य पर इन आंदोलनों का प्रभाव

कुछ लेखक कालजयी होते हैं। यह साहित्य की सच्चाई है कि हर लेखक किसी काल विशेष में पैदा होता है, किन्तु वह समकालीनता की सीमा-रेखा में कभी आबद्ध नहीं होता। यहीं से उनके सामर्थ्य का पता चलता है। सामर्थ्य इस अर्थ में हैं कि यह आने वाले पाठक समूह को पुर्नपठि के लिए आमन्त्रित करता है। समकालीनता के अतिक्रमण का यह अर्थ भी लिया जाना चाहिए कि लेखक को अपने समय के प्रति ईमानदार न होकर अतीतजीवी अथवा कल्पनाजीवी है। जो लेखक अपने देशकाल से, अपने समय से जितना अधिक जुड़ता है, वह उतना ही अधिक कालजयी होता हैं।

जब हम प्रेमचंद जी के साहित्य का अध्ययन करते हैं, तब हमें ऐसा महशूस होता है कि प्रेमचंद जी में ऐसी जरूर कोई सामर्थ्य है, जो हमें अनुप्रेरित करती है और जो सामर्थ्य है, वह है जीवन-संग्राम से जूझने की अदम्य जिजीविषा। जब मैं जीवन-संग्राम से जूझने की बात कर रही हूँ तो मेरी निगाह में तत्कालीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक मानचित्र है। प्रेमचंद जी ने शुरू तो किया था उर्दू से, उर्दू-साहित्य की परम्परा उन्हें विरासत से प्राप्त हुई थी।

भारतवर्ष के इतिहास में उन्नीसवीं सदी के समय राजनीतिक चेतना अपने चरम उत्थान पर थी। उस राजनीति का लहर संपूर्ण भारत में बहुत ज्यादा प्रखर हो चुका था। ऐसे समय में उस समय की वैचारिक आंदोलनों का अत्यंत विशेष रूप उसका अपना महत्त्व है, जो प्राचीन भारत के आचार-विचार, धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक और आर्थिक दृष्टि का एक नया ही स्वरूप दिया था। हमारे देश में मुगलों के शासन के अंतिम दिनों में अलग-अलग देशों से आने वाले यूरोपियनों से भारत का परिचय जैसे-तैसे बढ़ता ही गया। उस समय हमारे देश को ऐसा अनुभव हो

चुका था कि संसार प्रगति के जिस निस्सीम मार्ग से होकर गुजर रहा है उसे उसका पता भी नहीं है।

सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना और अगस्त सन् 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बीच के लगभग साठ वर्षों का कालखण्ड हमारे देश के लम्बे इतिहास में शायद सबसे बड़े परिवर्तन का समय है। फिर भी यह परिवर्तन अनेक अर्थों में दुखद रूप में अपूर्ण रहा और हमें इसी केंद्रीय अस्पष्टता से अपना सर्वेक्षण आरंभ करना सबसे सुविधाजनक प्रतीत होता है।[1]

यह वह समय है जब अँग्रेज हमारे देश में आकर बस गये थे और वो इस घमण्ड में रहने लगे थे कि अब हमारा शासन चिरस्थायी है। आठ वर्ष पहले हमारा पूरा देश अकाल विभीषिका के बीच एक शानदार दरबार लगा हुआ था जिससे भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का अंग होने की घोषणा की गयी थी। सन् 1880 के दशक में भारतीय सिविल सेवा के लगभग नौ सौ पदों में से सोलह को छोड़कर शेष सभी पर यूरोपीय ही विराजमान थे। सन् 1861 में जब मुटठी भर 'नेटिवों' को प्रादेशिक एवं सुप्रिम काउंसिलों में नामजद किया गया तो इन काउंसिलों की ताकतों को कम कर दिया गया था। यहाँ तक ही नहीं बल्कि जिस स्थानीय स्वायत्त शासन को लार्ड रिपन ने बड़े धूमधाम से लागू किया था, वह भी विकेंद्रीकरण का एक अनिवार्य कदम मात्र था। इस संबंध में वित्तमंत्री एवलिंग बेयरिंग की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है : "हम बंगाली बाबू के हाथ में उसके अपने विद्यालयों एवं नालियों का उत्तरदायित्व सौंपे तो ब्रिटिश साम्राज्य का विघटन नहीं होगा।" सैन्य-व्यवस्था जैसे महत्त्वपूर्ण मामलों में तो भारतीयों के हाथ में नाममात्र उत्तरदायित्व भी नहीं सौंपा जाता था। सन् 1947 तक कोई भी भारतीय सेना में ब्रिगेडियर से अधिक नहीं हो सकता था।

हमें इस बात से यह तो पता चलता है कि इस इतने बड़े भू-भाग का रोजमर्रा का संचालन भारतीयों की सहायता के बिना यह कार्य संभव नहीं था। अँग्रेज अपने आप को और ज्यादा दृढ़निश्चयी समझने लगे कि भारत में उन्हें अनेक चापलूस उन्हें बिल्कुल आसानी से मिल जाएगें। सन् 1857 के बाद राजाओं, जमींदारों एवं ग्रामीणों और शहरी अभिजात वर्ग के साथ नए सिरे से अँग्रेजों के संबंध प्रगाढ़ और सुदृढ़ होते गये। भारत के 622 देसी राजा तो अंत तक ब्रिटिश

सरकार की विश्वस्ततम रक्षापति बने रहे। यह पूर्णतः सत्य है कि शिक्षित हिन्दुस्तानी बुद्धिजीवी वर्ग की एक ऐसी नस्ल, जो रंग में काली किंतु विचारों और रुचि में बिल्कुल अँग्रेज होती, तैयार करने का मैकाले का स्वप्न 1880 के दशक तक टूटने लगा था। फिर भी, मध्यवर्ग की उच्चाकांक्षाएँ, जिनके फलस्वरूप कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और पूना में प्रांतीय समितियाँ बनीं और जिनकी चरम परिणति काँग्रेस की स्थापना में हुई, ब्रिटिश सरकार के लिए अधिक चिंता का विषय नहीं था। ह्यूम ने सलाह दी थी कि काँग्रेस को सरकारी प्रश्रय दिया जायँ ताकि वह सुरक्षा वाल्व का काम करे तथा एक और गदर को रोका जा सके। मगर ह्यूम की सलाह को डफरिन ने अभिजात्यपूर्ण तिरस्कार के साथ यह कहकर अस्वीकृत कर दिया गया कि "वे (ह्यूम) चतुर और सज्ज्न हैं; किन्तु लगता है कि उनका दिमाग कुछ चल गया है।"[2]

सन् 1888 में वायसराय ने घोषणा की कि काँग्रेस एक अत्यंत अल्पसंख्यक वर्ग की प्रतिनिधि से अधिक कुछ भी नहीं है। सर जान स्ट्रेची ने कैम्ब्रिज में अपने विद्यार्थियों को विश्वास दिलाया कि "भारत जैसी कोई चीज न तो कभी थी और न तो है ------ न तो कोई भारतीय राष्ट्र है और न ही भारत के लोग हैं जिनके बारे में हम सुनते हैं ----- यह असंभव है कि पंजाब, बंगाल, मद्रास और पश्चिमोत्तर प्रान्तों के लोग अपने को एक महान भारतीय राष्ट्र के अंग माने।"[3]

ब्रिटिश राजनीति की कुछ ऐसी चालें होती हैं जो साधारण आदमी की समझ में नहीं आ सकतीं। समय पर बात पलट जाना, हरेक बात को स्थिति की दशा तथा अवसर को रबड़ की तरह खींचकर उसको अपने मन के अनुकूल अर्थ लगा लेना और घोर अन्याय और अत्याचार को भी न्याय तथा दयालुता की दुहाई सर रंग देना, यह ब्रिटिश राजनीति की विभूति, प्रसाद, तत्परता तथा महत्ता है।[4]

भारतवर्ष अँग्रेजों की उसी शासन व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए तैयार था जिसके पीछे उदारता हो और जो भारतीयों को गोरों के साथ समकक्षता तथा समानता देने के लिए तत्पर हो। अब देश में शासन चलाना यदि संभव नहीं है तो कठिन अवश्य होता जा रहा था।

सन् 1877 में बड़ी शान-शौकत के साथ दिल्ली में दरबार हुआ जिसमें देश के बड़े-बड़े राजा-महाराजा और बहुत नामी गिरामी लोग शामिल हुए। यहाँ श्री

सुरेंद्रनाथ बनर्जी जैसे लोगों के मस्तिष्क में भारतीयों का एक संगठन बनाने का विचार आया। श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने स्वयं यह बात बताई है। लेकिन 'नेशनल कांफ्रेन्स' नामक जिस संस्था का जन्म इस क्रम में हुआ उसकी स्थापना सन् 1883 के पहले नहीं हो सकी।[5]

उस समय मिस्टर ह्यूम तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन से साक्षात्कार के लिए शिमला गये और उनके बारे में ऐसा कहा जाता है कि दोनों बनाया जिसके परिणामस्वरूप सन् 1885 में भारतीय-राष्ट्रीय-काँग्रेस का जन्म हुआ। इस संस्था का उद्देश्य ब्रिटिश हितों का संरक्षण और ब्रिटिश विरोधी आंदोलन का नियंत्रण करना था।[6] श्री रजनीपाम दत्त ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया टुडे' में यहाँ तक कहा है कि एक सशक्त संगठन का बनाना अपरिहार्य हो गया था। ब्रिटिश सरकार की पैनी आँखों ने आने वाले खतरों को देख लिया और उसने काँग्रेस की स्थापना कराकर आंदोलन की बागडोर अपने हाथ में ले ली।[7]

हमारे सामने ब्रिटिश राजनीति का सबसे सुन्दर "प्रहसन" बर्मा के पृथक्करण का प्रश्न है। आज के चार वर्ष पहले, सर चार्ल्स इनेस की गवर्नरी शुरू होने के कुछ ही समय बाद, जिसे देखिए वही-जिस बर्मी नेता की ओर आँख उठाए वही इस बात का समर्थक मालूम होता था कि बर्मा का हित इसी में कि वह भारत से अलग कर दिया जावें। वह भारत से अलग एक संघ बना दिया जावें। लार्ड पील ऐसे भूतपूर्व भारत-सचिव तथा माइकेल ओडायर ऐसे भूतपूर्व भारतीय गवर्नर यह चीत्कार करते फिरते थे कि समूचे बर्मा में एक भी ऐसा नेता नही हैं, जो भारत से अलग न होना चाहता हो।[8]

इस समय काँग्रेस एक ऐसी संस्था के रूप में खड़ी हुई जिसे एक ओर भारतीय राजनीतिक जीवन के आलोड़न-विलोड़न को अभिव्यक्ति देनी थी और ब्रिटिश हितों का संरक्षण करना था। काँग्रेस ने जिस चेतना को मुखरित किया वह मध्यवर्गीय चेतना थी। अस्तु, इस काँग्रेस को हम भारत की जनवाणी के रूप में स्वीकार नहीं कर पाते। लेकिन आश्चर्य यह देखकर होता है कि ऐसी संस्था से भी अँग्रेजों को भय लगा।[9]

काँग्रेसी लोग वर्ष में एक बार एक साथ जुटकर कुछ प्रस्ताव पास करती है, जिनमें से तो कुछ की शासन में सराहना की जाती थी तो कुछ को तो ऐसे

कहा जाता था कि यह प्रस्ताव नहीं बल्कि एक अर्जी कहनी चाहिए। तीन वर्षों के दौरान स्थिति ऐसी हो गयी कि मिस्टर ह्यूम को सफाई देने के लिए आगे आना पड़ा। 30 अप्रैल सन् 1888 को इलाहाबाद में आयोजित एक सभा में उन्होंने अपने पक्ष के औचित्य का प्रतिपादन किया। उनका यह भाषण बाद में "A Speech on the Indian National Congress, Its Origin, Aims and Objects." शीर्षक से प्रकाशित भी हुआ। इस भाषण के प्रकाशन के बाद ही ऐसा हो गया जैसे आग में किसी ने घी डाल दिया हो और नौकरशाही ने मिस्टर ह्यूम को इस देश से हटाने का ही प्रस्ताव तक ही कर डाला। लंदन के एक प्रमुख पत्र "दि टाइम्स" ने ब्रिटिश जनता की प्रतिक्रिया बताते हुए कहा था कि राजनीतिक सुधारों के लिए काँग्रेस की माँग को स्वीकार करने का अर्थ है भारतवर्ष को स्वराज दे देना और देश का शासन उनके हाथ सौप देना जो शासन करने के बिल्कुल योग्य ही नहीं है।

यह समाचार-पत्र बिल्कुल भी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं था कि भारतीय अपना शासन भार ग्रहण कर पाएगें। उसने व्यंग्यात्मक रूप में कहा भी था कि अगर भारतवासी अपने देश का शासन करने के योग्य होते तो वहाँ हम अँग्रेजों के बने रहने की जरूरत ही क्या होती। इस पत्र को समग्र भारतवर्ष की प्रतिनिधि संस्था मानने से भी इनकार किया। उसका कहना था कि सम्पूर्ण मुसलमान जाति काँग्रेस से अलग है और यह एक बड़ी बात है।[10] इस समाचार-पत्र ने बहुत खुलकर कहा कि भारतवर्ष शक्ति के बल पर जीता गया है और शक्ति के बल पर उस पर शासन किया जाएगा।[11] इस पत्र ने तो भारत के पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय बाबुओं को खुलकर सुना दिया कि अँग्रेज इस देश से कभी प्रत्यावर्तन करेगें भी तो देश को वो उन बाबुओं के हाथ नहीं सौपे जाएगें जिनकी जीभ बड़ी तेज है और जिनकी कलम सदैव लिखने के लिए तैयार रहती है, बल्कि वे अपना उत्तराधिकारी उसे बनाएगें जिसके पास तलवार की तेजी होगी और जो सामरिक दृष्टि से समर्थ होगा।[12] 'दि टाइम्स' के इस लेख से यह तो स्पष्ट ही है कि अँग्रेजों ने इस देश के हिन्दुओं और मुसलमानों को अलग-अलग ही रखने में ही अपना हित समझा। काँग्रेस के संबंध में शासन की यह परिवर्तित विचारधारा इलाहाबाद में आयोजित चौथी काँग्रेस के अवसर पर प्रकाश में आयी। सरकार के असहयोग के कारण काँग्रेस को अपने अधिवेशन के लिए लोथर कैसल नामक एक मकान खरीदकर उसमें एक अधिवेशन रखा गया।

लेकिन अँग्रेजों ने साम्प्रदायिकता के विष वृक्ष का जो बीज उत्पन्न किया था उसे तो अंकुरित होना ही था और अगले ही वर्ष, सन् 1889 में काँग्रेस अधिवेशन में जब प्रतिनिधि सरकार ने योजना बनाई तब एक मुसलमान प्रतिनिधि ने एक माँग की कि इम्पीरियल और प्रादेशिक कौंसिलों में समान रूप से हिन्दू और मुसलमानों की संख्या होनी चाहिए। यह पूरी तरीके से सत्य ही है कि इस प्रस्ताव का एक बड़ा मुसलमान समूहों ने स्वयं इसका विरोध किया। इसलिए यह तो स्पष्ट ही है कि भारत की अखण्डता के बारे में अन्य रूप से सोचने विचारने की परम्परा भी चल पड़ी। काँग्रेस की महत्ता की अवमानना का जो क्रम लार्ड डफरिन के उस कथन के साथ शुरू हुआ जिसमें उसने काँग्रेस को एक माइक्रोस्कोपिक माइनारिटी (नगण्य अल्पमत) कहा था, शासन की परिवर्तित विचारधारा के कारण और आगे बढ़ा।

भारतीय नेता अब इस बात को तो अच्छी तरह से समझ चुके थे कि अँग्रेज भारत में फूट डालों और शासन करों वाली नीति अपनाना चाह रहे थे। उनकी इस नीति को काँग्रेस के स्वागताध्यक्ष में श्री मनमोहन घोष ने सन् 1890 की कलकत्ता के बैठक में कड़ी से कड़ी भर्त्सना की। उन्होंने उस बैठक के दौरान यह भी कहा कि यह नीति अँग्रेजों को शोभा नहीं देती। सरकार भारतीयों के इस प्रतिक्रिया से विचलित हो गयी और उसने काँग्रेस अधिवेशन में सरकारी नौकरों को दर्शक के रूप में सम्मिलित होने की स्वीकृति तो दे दी और स्वीकृति भी इसलिए देनी पड़ी कि सरकारी अफसरों के सामने सरकार की आलोचना भारी पड़ती।

काँग्रेस के कुछ नेताओं ने कलेजा मजबूत कर दिल्ली में एक सम्मेलन कर काउंसिलों में जाने के प्रश्न पर विचार कर डाला, मगर कुछ इस तरह डरते-डरते मानों कोई अपराध कर रहे हों। सबसे बड़ा अपराध तो पराधीन होना है और उससे कुछ घटकर कमजोर और असंगठित होना। जब ये दोनों महान अपराध कर रहे थे, तो फिर काउंसिल में आने के छोटे से अपराध के लिए इतना सोच-विचार क्यों?[13]

भारत में राजनैतिक सुधारों के लिए, मौलिक अधिकारों के लिए और सामान्य जीवन के लिए जागरण फैल चुका था। परंतु सन् 1885 में इग्लैण्ड में ग्लैडस्टन के मंत्रिमण्डल पदत्याग के बाद अनुदार दल का शासन हो गया और सन् 1905 तक, थोड़े समय को छोड़कर यही अनुदार शासन सत्तारुढ़ रहा। यह युग

साम्राज्यवादी नीति के विकास करने का युग था। भारत के राजनीतिक युग जीवन के शासन से स्वभावतः निराशा की भावना पैदा हुई। भारत में अनुदार दल की अनुदारता अपने चरम तक उस समय पहुँची जिस समय लार्ड कर्जन इस देश के सर्वोच्च शासक के पद पर विराजमान था।

उस समय भारत में कभी भी ऐसा नहीं हुआ था जैसा कि आंदोलन बंगाल में चल रहा था। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाएँ चल रही थीं और हजारों की संख्या में लोग भाग लेते थे। बंगाल का यह संघर्ष किसी विशेष निहित स्वार्थ का संघर्ष नहीं था, बल्कि समस्त जनता का अँग्रेजों की नीति के खिलाफ आंदोलन था। इस आंदोलन का मुसलमानों ने भी पूर्णतया समर्थन किया था।

पुलिस के रिपोर्टों से यह पता चलता है कि बंग आंदोलन 'वन्दे मातरम्' का आंदोलन हो गया। जमीदारों ने अपने कारिंदों के द्वारा आंदोलन को बढ़ावा मिला। लेकिन हमें यह नहीं समझना चाहिए कि इस आंदोलन 1857 के सामंतों का विद्रोह है। यह आंदोलन अगर देखा जाय तो सच्चे अर्थों में जनांदोलन था। इसका जीता जागता उदाहरण यह भी है कि मैमन सिंह के चमारों ने विलायती जूतों की मरम्मत करने से भी साफ इनकार कर दिया था। वारिसाल के उड़िया रसोईदारों और घर का काम-काज करने वाले नौकरों ने उन मालिकों के यहाँ काम करने से इनकार किया जिनके घरों में विदेशी मालों का प्रयोग धड़ल्ले के साथ होता था। परीक्षा भवन से परीक्षार्थी इसलिए बाहर निकल आए थे क्योकि उनकी लिखने के उत्तर-पुस्तिका विदेशी काग़जों से बनी हुई थी। परीक्षार्थियों ने उसका पुरजोर विरोध किया। उस विषय सबसे रोचक घटना तो इतिहास में उस छः वर्षीय बालिका का है जिसने विदेशी दवाओं को रुग्णावस्था में भी खाने से साफ इनकार ही कर दिया था[14]

इस आंदोलन ने भारत माँ की कल्पना माँ के रूप में करना सिखाया। 28 सितम्बर सन् 1905 में महालया के दिन कालीघाट पर जो भव्य पूजा हुई थी वह इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रभक्ति को एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में ग्रहण किया गया था।[15] जनता में प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से कीर्तन मंडलिया खड़ी हुई।

इस आंदोलन ने कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी अभिभूत किया और उन्होंने बंगाल की जनता से अपील की कि राखी तृतीया का व्रत करे और उस दिन इस बात का निश्चय कर ले कि भाई-भाई को एक ही जगह पर रहना है। भारत की जनता एक ही है और उसे टुकड़ों-टुकड़ों में नही बाँटा जा सकता है। उस समय रक्षा बंधन पर नया गीत भी चल पड़ा था -

भाई-भाई एक ठाई / भेद नाई-भेद नाई

16 अक्टूबर सन् 1905 को बंगाल की जनता ने एकत्र होकर स्नान किया और नंगे पैर काली मंदिर में जाकर यह प्रतिज्ञा की कि वह अपना राष्ट्रधर्म जरूर निभाएगी एकता के लिए पवित्र बंधन एक दूसरे से लोगों ने स्वीकार भी किया।

अँग्रेजों ने अपनी सारी शक्ति लगाकर आंदोलन को कुचलने का भरसक प्रयास किया दमन के लिए गोरखा पलटन तक की भी सहायता ली गयी। सच्ची बात तो यह है कि सन् 1905 में बंगाल ने दिखा दिया कि ब्रिटिश शासन भारत में हथियार के बल पर ही टिका हुआ है। जो अँग्रेजों का समर्थन कर रहे थे, उनको भी कर्जन के इस कृत्य से बड़ा कष्ट हुआ। ओ डोनेल के प्रमाण पर हम यह भी कह सकते है कि बंगाल में राजकीय पदों पर प्रतिष्ठित अधिकारियों ने भी इस सारे काण्ड की निंदा की। उनकी समझ में बंग विभाजन का प्रस्ताव अदूरदर्शितापूर्ण तो था ही, अनावश्यक और हानिकर भी था। कलकत्ता उच्च-न्यायालय ने भी बंग विभाजन की योजना को एक प्रतिक्रियावादी और अविवेकपूर्ण दुष्ट योजना कहा था।[16]

बंग विभाजन के विरुद्ध जो संघर्ष बंगाल में हुआ उसके कुछ तात्कालिक प्रेरक परिणाम भी हुए। अँग्रेजों ने भारतवर्ष में शासन करने के लिए ऐसे सहायकों की अपेक्षा का अनुभव किया था जो न सिर्फ अँग्रेजी पढ़े-लिखे हो बल्कि अँग्रेजों के प्रति पूरी तरह से भक्ति की भावना भी रखते हों। फलतः कंपनी के समय से ही जो शिक्षा-नीति इस देश में चलती रही उसका उद्देश्य गुलामी की भावना को बद्धमूल करना था। विद्यार्थियों का समूह भी उसी दुकानों पर धरना देता था जहाँ विदेशी मालों की बिक्री होती थी वे ही सभी सभाओं का संगठन भी करते थे, भारी जुलूस भी निकालते थे और राष्ट्रीयता का संदेश घर-घर पहुँचाते थे।

अतः सरकार ने अब विद्यार्थियों के खिलाफ दमन कार्य का शुरुआत कर दिया था। उनको स्कूलों और कॉलेजों से निष्कासित भी किया गया। 16 अक्टूबर सन् 1905 को बंगाल में राखी तृतीया का व्रत लिया गया, उसमें भी विद्यार्थियों ने बड़े उत्साह और लगन के साथ भाग लिया। नेताओं के निर्णयानुसार उस दिन वे नंगे पाँव शिक्षालयों में गए और उस अपराध के लिए अधिकारियों ने उन पर जुर्माना किया। अभिभावकों ने जुर्माने की रकम भरना अस्वीकार कर दिया। इधर अधिकारी भी डटे रहे।[17] इसी सिलसिले में इस बात का अनुभव किया गया कि शिक्षा व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन की अपेक्षा है जो शिक्षा को सरकारी नियंत्रण से मुक्त बनाएँ। यहीं से शिक्षा आंदोलन प्रारंभ होता है। लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयों पर सरकारी अंकुश कड़ा कर दिया था। इसकी भी प्रतिक्रिया इस राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन के रूप में हुई।

बहिष्कार आंदोलन ने जिस स्वदेशी आंदोलन को जन्म दिया उसका प्रत्यक्ष संबंध उन गरीबों से था जो करघों पर कपड़े तैयार करते थे। परिणामतः यह आंदोलन गरीब जनता का हित साधक हो गया। अंग्रेज इस आंदोलन से बहुत घबराए। इस घबराहट में ही उन्होंने धमकी देना आरम्भ किया।[18]

थोड़े समय बाद ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं के बीच आपसी दरारें आ गईं और इसी दरार के पड़ते ही कांग्रेस दो दलों में 'नरम' तथा 'गरम' में विभक्त हो गई। इन दलों के नेता क्रमशः गोखले और तिलक हुए। वस्तुतः इन दोनों वर्गों का आपसी संघर्ष कलकत्ता कांग्रेस के समय से ही चल रहा था। दादाभाई नौरोजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण कांग्रेस की एकता किसी तरह से बनी हुई थी। लेकिन सूरत कांग्रेस की अध्यक्षता के प्रश्न पर कांग्रेस के दोनों दलो का मतभेद खुलकर सामने आया।

इसके पहले काँग्रेस ने जो चार सूत्रीय कार्यक्रम स्थिर किया था उसे कार्यान्वित करना नरम पंथियों की शक्ति के बाहर था। उधर उग्र विचार के लोग सूरत कांग्रेस में भी पूर्व निश्चित कार्यक्रम का अनुमोदन कर राष्ट्र को ब्रिटिश-साम्राज्य के विरोध में सक्रिय ढंग से उतारना चाहते थे। इस वर्ग ने अनुभव किया कि भीख माँगने से आजादी नहीं मिलती। नरम पंथियों ने राष्ट्रीयता के जिस पारे को बहुत नीचा कर दिया था तिलक के उग्र दल ने उसे ऊँचा उठाने की चेष्टा

की। कांग्रेस जनों का यह आपसी मतभेद, दुर्भाग्ययुक्त अत्यंत निम्न स्तर पर चला गया। तिलक को कांग्रेस में भाषण देने की स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई और एक प्रतिनिधि ने मंच की ओर जूता फेंका जो सुरेंद्रनाथ बनर्जी को छूता हुआ फिरोजशाह मेहता को लगा। इसके बाद तो डंडे भी बरसाए गये। अन्ततः संस्था के ऊपर नरम दल वालों का दावा रहा। उन्होंने ऐसे नियम बनाए कि नए विचार के लोगों के लिए कांग्रेस का घुसना ही असंभव हो गया। किन्तु, तिलक भारतीय राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में अवतीर्ण हुए। सरकार भी इनसे डरने लगी और उसी के कारण ही उसने दमन चक्र चलाया। हिन्दी के केसरी में प्रकाशित होने वाले एक लेख के कारण तिलक को सन् 1908 में छः वर्षों की कैद की सजा हुई और वे जेल में डाल दिए गये।[19] कांग्रेस के इन दोनों दलों के मतभेद का मुख्य कारण यह था कि दोनों ही दल इस बात पर सहमत नहीं हो पा रहे थे कि कांग्रेस का मुख्य लक्ष्य क्या हो और फिर उस लक्ष्य तक पहुँचने का मुख्य साधन क्या हो? सन् 1905 की कांग्रेस में कांग्रेस का लक्ष्य, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति स्थिर हुआ था। सन् 1906 की कांग्रेस के मध्य दादाभाई नौरोजी ने स्वराज्य की बात उठाई थी। स्वराज्य से उनका मतलब शासन की उस व्यवस्था से था जो स्वयं यूनाइटेड किंगडम में प्रचलित थी। आगे चलकर इसी स्वराज्य के मंतव्य के प्रश्न पर नरम और गरम दलों का भयंकर मतभेद हुआ। जहाँ नरम दल औपनिवेशिक स्वराज्य की कल्पना से संतुष्ट था वहाँ गरम दल पूर्ण स्वराज्य की माँग कर रहा था।

गरम दल के नेताओं में तिलक के अलावा अरविन्द का भी नाम लिया जाता है। अरविन्द यह जानते थे कि एक जाति अपने हितों का त्याग दूसरी जातियों के हितों के लिए कर दे यह मनुष्य के स्वभाव में नहीं है। इसी से इन नए नेताओं ने कांग्रेस की पुरानी परम्परा के अनुसार सरकार के पास अर्जी भेजने के धंधे को पागलपन और बेवकूफी कहा।[20] देश में सामाजिक सुधार, औद्योगिक विकास, नैतिक उत्थान और शिक्षा सुधार के प्रति जो तत्परता थी अरविन्द को उससे भी बहुत संतोष नहीं था। उन्होंने बड़े प्रभावशाली ढंग से यह कहा था कि राजनीतिक मुक्ति के बिना ये सारे उद्योग सारहीन तथा व्यर्थ हैं। सन् 1907 में 9 से 23 अप्रैल तक अरविन्द ने 'वन्दे मातरम्' नामक अपने दैनिक पत्र में सविनय अवज्ञा की चर्चा उठाकर उसका विश्लेषण किया।[21]

इस समय सविनय अवज्ञा की दो दिशाएँ स्थिर हुई। पहली का उद्देश्य संगठन द्वारा ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करना और उसके शासन का चलना असंभव कर देना था और दूसरी का ब्रिटिश व्यवस्था के साथ असहयोग करके उसे घाटे में डालना एवं परिणामतः देश को ब्रिटिश पूँजीवाद के शोषण से बचाना था।

सविनय अवज्ञा आंदोलन ने कचहरियों का बहिष्कार, सरकारी नियंत्रण में पड़ी हुई शिक्षण संस्थाओं से असहयोग करना जिसके द्वारा सरकार दमन चक्र परिचालित करती थी, निश्चित किया। इस आंदोलन का अन्तिम लक्ष्य करबंदी आंदोलन को बढ़ावा देना था। सन् 1909 की 21 जुलाई को 'कर्मयोगी' नामक पत्र में अरविन्द ने इस आंदोलन का रूप और भी अधिक स्पष्ट किया और कहा कि जैसे अठरहवीं सदी के अमेरिकन आंदोलन का नारा था - प्रतिनिधि नहीं तो कर नहीं, वैसे ही हमारा नारा होना चाहिए 'शासन-तंत्र के ऊपर हमारा नियंत्रण नहीं है, तो हम सहयोग नहीं करेंगे।[22]

आगे चलकर गाँधी जी ने जो आंदोलन चलाया उसका रूपाकार उनके राजनीतिक रंगमंच पर अवतीर्ण होने के पहले ही स्थिर हो गया था। सभाओं को भंग करने का प्रयास सरकार की ओर से की जाती और जनसाधारण को यह सुझाया जाता था कि कांग्रेस का उग्र दल देश में भयंकर विप्लव लाना चाहता है। शासन-सुधार का काम शांति से हो सकता है। इसलिए जनता के लिए यही उचित होगा कि वह संयत नरम पंथियों के साथ सहयोग करे और देश को आगे बढ़ाकर ले जाए।[23]

सन् 1909 में बंगाल में पौरुषहीन कर देने के उद्देश्य से एक सरकारी आदेश जारी कर बंगाल के नवजवानों को शारीरिक-शिक्षण-संस्थाओं पर भी प्रतिबंध लगाया गया। लेकिन यह सब करने पर भी सरकार आंदोलन को रोक नहीं पाई। उसके आतंक की प्रतिक्रिया में आतंकवाद का जन्म हुआ।

कांग्रेस का प्रगतिशील उग्र दल अंग्रेज सरकार के साथ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में असहयोग करके उसके कानून की सविनय अवज्ञा करके अंग्रेजी की शक्ति को क्षीण करना चाहता था। किन्तु नए विचार के लोगों में कुछ ऐसे भी लोग हुए हैं जिन्होंने यह अनुभव किया कि सविनय अवज्ञा पर्याप्ति नहीं है। उन्होंने ब्रिटिश शक्ति को

शक्ति के बल पर नष्ट करने का निश्चय किया।[24] चूँकि ऐसी संस्था की स्थापना सार्वजनिक और प्रकट रूप में नहीं की जा सकती थी, आतंकवादियों ने गुप्त संस्थाएँ बनाई। इस वर्ग के आंदोलनकारियों को अंग्रेजों ने विप्लवकारी (अनारकिस्ट) और टेररिस्ट कहा है। किन्तु ये शब्द ज्यादा प्रचलन में नहीं हैं। ये लोग देश में अशान्ति और अव्यवस्था फैलाने के उद्‌देश्य से नहीं आए थे। इनका उद्‌देश्य था भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के फौलादी पंजे से मुक्त करना और देश में स्वराज्य अर्थात् जनता के शासन की स्थापना करना। श्री आर. सी. मजूमदार ने इसी कारण इनके आंदोलन को मिलीटेन्ट नेशन्लिज्म कहा है।

19वीं शती के उत्तराद्‌र्ध से ही इस तरह की संस्थाओं की स्थापना होने लगी थी। किंतु तब वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थीं और बहुत कारगर नहीं हुई थीं। बंग-विभाजन ने इस आंदोलन को गति दी। 'युगांतर' नामक पत्र ने भी इस आंदोलन को प्रगतिशील बनाया। इस आंदोलन की दिशाएँ निम्नलिखित थीं।

1- अस्त्र-शस्त्र का संग्रह

2- सरकारी अधिकारियों और उनके जासूसों की हत्या।

3- राजनैतिक डकैती।[25]

इस आंदोलन ने राजनैतिक स्वातंत्र्य की उपलब्धि के लिए सशस्त्र विद्रोह किया और लक्ष्य सिद्‌धि के साधन-स्वरूप हिंसा को अंगीकार किया। दल के जो सदस्य मुखबिर हो जाते थे उन पर खास नजर रखी जाती थी और उनकी हत्या कर दी जाती थी। अलीपुर षड्‌यंत्र केस के मुखबिर गुसाईं की हत्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।[26] इस आंदोलन के नेताओं में अरविन्द घोष और वारीन्द्र घोष के नाम लिए गए। सन् 1908 में अरविन्द पर एक मुकदमा भी चलाया गया था किंतु विश्वसनीय साक्षी के अभाव में सरकार वह मुकदमा हार गई। 30 अप्रैल 1908 को मुजफ्फरनगर (बिहार) में खुदीराम बोस ने स्थानीय जिला जज किंग्सफोर्ड के धोखे में श्रीमती और कुमार कैनेडी पर बम फेंका जिसके कारण उनकी मृत्यु हो गई। खुदीराम बोस के सहयोगी प्रफुल्ल नामक व्यक्ति ने जब देखा कि वह गिरफ्तार कर लिया जाएगा तब उसने आत्महत्या कर ली। खुदीराम पर मुकदमा चला और उसे फाँसी की सजा दे दी गई। इस फाँसी की ख़बर पाकर शोक मनाया गया।[27]

ऐसा लगता है कि इस घटना ने सारे देश को झकझोर दिया। तभी तो खुदीराम बोस की तस्वीरें सारे देश में बँटी थीं। सरकारें इस विप्लव से घबड़ा उठी। उसने भूपेन्द्रनाथ दत्त को, जिन्होंने 'युगांतर' नामक पत्र के द्वारा हिंसा का खुलकर समर्थन किया था, जेल की लम्बी सजा दी। लेकिन दण्ड का भय जनता के हृदय से भागता जा रहा था। सन् 1908 को महाराष्ट्र में तिलक को गिरफ्तार किया गया। आन्ध्र के नेता सर्वोत्तिम राव को भी नौ महीने के लिए कैद में डाल दिया गया। अंग्रेजों का क्रोध कुछ इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ था कि जब सर्वोत्तिम राव ने अपनी सजा के विरुद्ध अपील की तो उसकी नौ महीने की सजा को बढ़ाकर हाईकोर्ट ने तीन साल की सजा कर दी।[28]सन् 1908 सरकार ने दो महत्त्वपूर्ण कानून पास किए-

1- सभाबंदी कानून

2- प्रेस ऐक्ट इन कानूनों का भारत की जनता ने बड़ा विरोध किया।

केन्द्रीय धारा सभा में सभाबंदी कानून के बिल पर भाषण करते हुए श्री गोखले ने सरकार को सावधान किया था कि देश के युवक हाथ से निकले जा रहे हैं और यदि उन्हें वश में न रखा जा सका तो दोष मत देना।[29]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देश का यह वर्ग हिंसात्मक ढ़ग से संघर्ष करने के लिए खड़ा हो गया था। देश के बाहर भी ऐसी संस्थाएँ बनीं और उन्होंने भी भारतीय आतंकवाद को पर्याप्त बल पहुँचाया। इस क्रम में रासबिहारी घोष, लाला हरदयाल, अमीरचंद आदि के नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दू महासभा के प्राण वीर सावरकर भी एक ऐसे ही अनोखे शूरमा सिद्ध हुए थे।

भारत कांग्रेस के उग्रदल और आतंकवादियों के किए जो कुछ हो रहा था उन्हें देखकर अंग्रेज दंग रह गए। बंगाल में बंग विभाजन के विरुद्ध जब आंदोलन कारियों ने माँ काली से आशीष लिया था। बंगाल में खुले ढंग से यह भी कहा गया था कि राष्ट्रभक्ति प्रत्येक भारतीय का पवित्र कर्तव्य है। आगे चलकर अरविंद ने राष्ट्रीय-मुक्ति-आंदोलन को प्रभु-प्रेरित आंदोलन बताया। अपने एक भाषण में बंबई में उन्होंने कहा था कि स्वतंत्रता के लिए प्रत्येक देश को बलिदान देना होता है। परमात्मा ने भारतीयों से बलिदान माँगा है और हमें प्रभु की उस इच्छा को पूरा करना है। अरविन्द ने यहाँ तक कहा कि अश्विनी कुमार दत्त और तिलक

आंदोलन के असली नेता नहीं हैं, असली नेता तो स्वयं परमात्मा हैं, जिन्होंने अपनी इच्छा पूर्ति के लिए इन नेताओं को नियोजित किया है।[30]

अरविन्द को तो इस बात की भी परवाह नहीं थी कि भारत की मुक्ति के लिए उद्योग करने वाले की शक्ति सीमित है और उनके साधन स्वल्प हैं और जिससे मुकाबला है वह ब्रिटेन एक अत्यंत शक्तिशाली साम्राज्य खड़ा कर चुका है। उन्होंने अपनी माँ के नाम अपने एक पत्र में लिखा था - "यदि कोई राक्षस मेरी माँ की छाती पर चढ़कर उसका रक्त पीना चाहता हो तो क्या उस समय मैं यह विचारने बैठूँगा कि मुझमें उस राक्षस से लड़ने की शक्ति है या नहीं? इस समय मेरा एक ही कर्तव्य होगा कि मैं अपनी माँ की रक्षा में आ जाऊँ। इसी पत्र में उन्होंने यह भी लिखा है कि भारतीयों को एक मात्र चिंता इस बात की होनी चाहिए कि उन्हें अपनी मातृभूमि की रक्षा करनी है। एक क्षण के लिए भी उन्हें संघर्ष के परिणाम के संबंध में विचारना नहीं है।"[31]

एक सामान्य अंग्रेज की यह सब देखकर जो प्रतिक्रिया हो सकती थी उसे बड़े अच्छे ढ़ग से हेनरी डाडवेल ने अपनी पुस्तक " A Sketch of the History of India." में इन शब्दों में प्रस्तुत किया है - " Kali the wife of Shiva is identical with Bhawani, the patron Goddess of Shiva ji and the deity who guided and protected the thage in their murderous enterprises. She was now envoked by the politicians as the patron of the boycott. Hecatombs of goats were sacrificed in the temple at Calcutta. Not for a century had her court run with such strenms of blood ; and at the same time ast he public leaders of the movement invoked her aid, groups of boy still at school, and youths still at college bound themselves befour her emage into confederecies of murder, vowing to offer her blood, not of goats but of every European in Bengal. The English Government was to be over thrown by terrorism." [32]

अंग्रेजों को यह समझ में नहीं आ रहा था कि राजनैतिक अधिकारों और शासन-विषयक सुधारों की माँग इस ढ़ग से क्यों की जा रही थी। वास्तव में अंग्रेज जाति के लिए यह अनुभव बिल्कुल नया था। उनके अपने देश में जिस आसानी से बिना रक्तपात किए शासन-क्रम बदला करता है वही उनका देखा हुआ था। उसके बाहर उनको देखने का अभ्यास नहीं था। एक पराधीन राष्ट्र को अपनी मुक्ति के लिए क्या कुछ करना पड़ता है, यह डाडवेल जैसे व्यक्तियों को विदित नहीं था। शायद इसी से उन्होंने आक्रोश के साथ अपना यह फतवा जारी किया है - "It was

one thing to enlightened leaders who desired to take their place in the administration of the Empire , it was quote another to encourage men who would use any power they could obtain to promote the over throw of Bitish rule in India. [33]

यह विचार उस साम्राज्यवादी ब्रिटेन के थे जो भारत को अपने पंजे से मुक्त कराने को तैयार नहीं था। लेकिन लार्ड कर्जन के शासन-काल के अन्तिम दिनों से जो भारत में असंतोष और विद्रोह का भाव फैल रहा था उसकी वे उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे। इस युग में ब्रिटिश नीति जो चलाई जा रही थी उसकी पोल खोलते हुए श्री आर. सी. मजूमदार ने बताया है कि - "एक ओर सरकार दमन कर रही थी और दूसरी ओर नरमपंथियों को अपना समर्थन देकर उनको प्रभावकारी बना रही थी ताकि देश में विद्रोह न फैले। इनके अलावा देश की भिन्न जाति, धर्म और स्वार्थ से जनता के बीच पारस्परिक द्वेष, घृणा और अलगाव पैदा कर फूट डाल कर राज्य करना चाहती थी।"[34]

देश के अगले इतिहास की सचमुच यही दिशा है ही। सन् 1905 में कर्जन के उत्तराधिकारी के रूप में लार्ड मिन्टों की नियुक्ति हुई। एक वर्ष बाद ही इंग्लैण्ड में अनुदार शासन का तख्ता पलट गया और लिवरदल शासनारूढ़ हुआ। लार्ड मिन्टों को शासन का व्यापक अनुभव था। भारत आने के बाद सन् 1906 में ही उसने यह अनुभव किया कि शासन-सुधार के नाम पर कुछ-न-कुछ करना होगा। इंग्लैण्ड का लिबरल शासन दुनिया को यह दिखाना चाहता था कि वह भारत के प्रति भी उदार है, लेकिन सच्चाई यह थी कि वह भी भारत को कुछ देना चाहता था।[35] इसी भाव स्थिति में 'मार्ले मिन्टों शासन सुधार' की योजना तैयार हुई। स्वयं लार्ड मार्ले ने अपने शासन काल में किए जाने वाले सुधार का पर्दाफाश यह कहकर किया - "यदि यह कहा जाता हो कि ये शासन-सुधार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दुस्तान को प्रातिनिधिक व्यवस्था की ओर ले जाते हैं तो कम से कम मैं तो इनसे कोई वास्ता नहीं रखूँगा।"[36]

मोर्ले-मिन्टो सुधार योजना के अंतर्गत भारत के प्रशासन में निम्नलिखित परिवर्तन हुए -

क- वायसराय की कार्य-कारिणी समिति में एक भारतीय की सदस्य के रूप में नियुक्ति - यह नियुक्ति सर्वप्रथम बंगाल के श्री सत्येंद्र प्रसन्न सिंहा को प्राप्त हुई।

ख- प्रान्तीय क्रांति - कारिणी समितियों में भारतीय सदस्यों की नियुक्ति-जिन प्रांतों में गवर्नरों की कार्य-कारिणी समिति नहीं हो उनमें वैसी समिति का गठन।

ग- प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा-सभाओं के सदस्यों की संख्या वृद्धि-इन सभाओं में मनोनीत तथा निर्वाचित दो प्रकार के सदस्य होते थे। इस सुधार के अनुसार दोनों प्रकार के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई।मोर्ले-मिन्टों सुधार की ये तीन दिशाएँ थी-

1- भारत में एक ऐसा मंच तैयार करना जिसके माध्यम से भारतीयों के राजनीतिक विचारों का अनुमान किया जा सके।

2- विद्यमान धारा सभाओं को अपेक्षाकृत अधिक प्रातिनिधिक और प्रभावकारी बनाना।

3- भारतीयों की शासन कार्य-कारिणी समितियों में नियुक्ति।[37]

कांग्रेस के नरम पंथियों को इन सुधारों से संतोष हुआ और अंग्रेजों की नीयत के प्रति उनकी आस्था और भी दृढ़ हुई। लेकिन कांग्रेस के उग्रपंथियों को इस सुधार योजना से तनिक भी संतोष नहीं हुआ। एक बात यह जरूर हुई कि यह समझ लिया गया कि उनके बहिष्कार आंदोलन आंशिक सफलता का परिणाम मोर्ले-मिन्टो सुधार है। इससे संघर्ष व्यर्थ नहीं गया। एक दूसरी बड़ी बात यह हुई कि भारत की आजादी का प्रश्न संसार के सामने खड़ा हो गया।[38]

प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत

प्रेमचंद ने अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के बारे में एक संपादकीय टिप्पणी लिखी है, जिसमें वे स्वयं कहते है - "जैसा इसके नाम से जाहिर है, संघ उस साहित्य और कला-प्रवृत्ति का पोषक है जो समाज में जागृति और स्फूर्ति लाए, जो जीवन की यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाले।"[39]

फिर वे दूसरी टिप्पणी में कहते हैं - "इस संघ का उद्देश्य, जैसा हम पहले लिख चुके हैं, साहित्य और कला में प्रगति पैदा करना, जीवन की यथार्थताओं का चित्रण करना और जनता के सुख-दुख और कशमकश की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति करके उसे उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जाना है, जिसके लिए आज विश्व का मानव-समाज कोशिश कर रहा है।"[40] 'साहित्य में प्रगति का अर्थ टिप्पणी में वे कहते हैं - "हमारे साहित्य को जनता के हृदय के साथ एक कर देने की अत्यंत आवश्यकता है, जिससे वह सार्वजनिक जीवन से प्रेरित जनता की आत्मा के साथ जी सके।"[41] फिर इसी टिप्प्पणी में वे आगे कहते हैं - "गत नौ और दस अप्रैल को लखनऊ में उसने अपना वार्षिक अधिवेशन इन पंक्तियों के लेखक के सभापतित्व में मनाया था, जिसमें भारत के सभी प्रांतों के कलाकारों ने भाग लिया था। यह निर्विवाद साहित्य में प्रगतिमान परिवर्तन का द्योतक था।"[42]

किसी आकस्मिक घटना के कारण प्रेमचंद प्रगतिशील साहित्य के आंदोलन में शामिल नहीं हुए बल्कि उससे उनका संबंध एक अधिवेशन की सदारत कर देने-भर का न था। उस समय उनकी आर्थिक व शारीरिक स्थिति ठीक न होने के बावजूद भी वे इस आंदोलन में सक्रिय रूप से अपना योगदान दिया था। वे समाज के विकास में किसी भी प्रकार का रुकावट डालने वाले साहित्य का संगठन बनाकर उसका डटकर मुकाबला करने वाले और समाज के विकास में सहायक होने वाले साहित्य को संगठित करने का कार्य उन्होंने आरम्भ कर दिया था और समझ में इसकी आवश्यकता को वे महशूस करने लगे थे।

प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना करने में प्रेमचंद जी का पूरा-का-पूरा सहयोग था। इस सिलसिले में अहमद अली ने कहा है - "दो दिन बाद वह

चौदहवीं फरवरी आई जो इतिहास में लोगों को बहुत दिनों तक याद रहेगी। आगे चलकर कुछ वर्षों के बाद हमारे साहित्य का इतिहास लिखा जाएगा तब वह दिन एक विशेष महत्त्व का माना जाएगा। उस दिन हम सब लोग अपने देश में प्रगतिशील लेखकों के आंदोलन का संघटन करने के लिए फिर सज्जाद ज़हीर साहब के मकान पर इकट्ठे हुए थे। वहाँ मुंशी प्रेमचंद, मौलाना अब्दुल हक़ और मुंशी दयानारायन निगम सरीखे ऐसे बड़े-बड़े लोग मौजूद थे जिन्होंने साहित्य की उन्नति के लिए बहुत बड़े-बड़े काम किए थे और हममें से नई पीढ़ीवाले कुछ ऐसे लोग भी थे जिनके कंधों पर नए और अधिक दृढ़ साहित्यिक आंदोलन चलाने का भार आ पड़ा था; और ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाएँगे त्यों-त्यों उनके कंधों पर का यह भार बराबर बढ़ता जाएगा। हम लोगों ने एक मत होकर 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिशन' या 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्थापित करना निश्चित किया। मुन्शी दयानारायन निगम को इस संबंध में कुछ निराशा और संदेह सा हो रहा था; लेकिन प्रेमचंद जी ने उस समय एक बहुत मार्के की बात यह कही कि प्रगतिशील लेखकों के आंदोलन के लिए हमारा देश तैयार हो गया है और हम लोग एक बहुत ही उपयुक्त और शुभ अवसर पर इस एसोसिएशन का आरम्भ कर रहे हैं।"[43]

प्रेमचंद को किन्हीं खास परिस्थितियों में प्रगतिशील लेखकों का आंदोलन उपयोगी समझा था। सन् 36 का जमाना था जब कांग्रेसी नेता काले कानून के मातहत मंत्रिमण्डल बनाने की तैयारी कर रहे थे, जब किसानों और मज़दूरों के अपने संगठन बनाने की तैयारी कर रहे थे, जब किसानों और मज़दूरों के अपने संगठन अधिक सक्रिय रूप में आगे आ रहे थे, जब हिन्दी-साहित्य छायावाद की देहरी पार करके एक नई मंजिल की तरफ कदम उठा रहा था। प्रेमचंद को जनता की ताकत और नए लेखकों की लगन में विश्वास था। इसीलिए उन्होंने उस अवसर को 'उपयुक्त' और 'शुभ' बतलाया था।[44]

9 और 10 अप्रैल को लखनऊ में होने वाले अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ के पहले अधिवेशन में प्रेमचंद ने सभापति-पद से जो भाषण दिया था, वह उनके निबंधों और भाषणों में ही श्रेष्ठ नहीं था, हिन्दी और उर्दू में प्रगतिशील साहित्य पर जितने भाषण और निबंध लिखे पढ़े-गए हैं, सभी में उनका अन्यतम स्थान है।[45]

'प्रगतिशील लेखक संघ' के उद्देश्यों के बारे में उन्होंने कहा - "हमारा परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धांतों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कवाब और राग-रंग के मुखापेक्षी बना रहना उसे पसंद नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का संदेश-वाहक बनाने का दावेदार है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायुमण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते है कि साहित्य-केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियमपूर्वक चर्चा हो, नियम पढ़े जाएँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायुमण्डल तैयार होगा। तभी साहित्य में नए युग का आर्विभाव होगा।"[46]

साहित्य का इन आंदोलनों पर प्रभाव

हमारे भारत में समय-समय पर जितने भी आंदोलन चलाए गए उनका प्रभाव हमें साहित्य में देखने को मिलता है और उन्हीं आन्दोलनों के प्रभाव में आकर हमारा साहित्य भी समयानुकूल बदलता गया। गाँधी जी द्वारा चलाया गया हर आंदोलन का प्रभाव हमें प्रेमचंद के साहित्य में दिखाई पड़ता है और इन सभी आंदोलनों में सबसे महत्त्वपूर्ण आंदोलन है - स्वाधीनता आंदोलन। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन मानवीय मूल्यों का व्यापक स्तर का आंदोलन था। इस आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य उपनिवेश से छुटकारा पाना था, लेकिन यह आंदोलन तो भारतीय समाज को कूपमण्डूकता, अंधविश्वास, सामन्तवाद आदि से मुक्ति पाने के लिए चलाए जा रहे थे, सामाजिक आंदोलनों को भी पूरी तरीके से समर्थन दिया जा रहा था। कहना न होगा कि स्वाधीनता आन्दोलन के सिपाहयों को यह ज्ञात हो चुका था कि बिना सामाजिक आंदोलनों के स्वाधीनता आंदोलन को सफल नहीं बनाया जा सकता। यह अकारण नहीं है प्रेमचंद ने अपने साहित्य में स्वाधीनता आंदोलन के साथ ही सामाजिक आंदोलनों को भी पूरा महत्त्व दिया है।[47]

जब प्रेमचंद अपना लिखने का कार्य कर रहे थे, उस समय भारत राजनीतिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य को जिस एक व्यक्ति ने सर्वाधिक प्रभावित किया था, वे महात्मा गाँधी जी ही थे। यह तो साफ तौर पर पता ही चल जाता है कि प्रेमचंद के लेखन पर गाँधी जी की अमिट छाप तो पड़नी ही थी; और वह पूरी तरफ से उनके साहित्य पर पड़ा भी है। प्रेमचंद अगर राजनीति के क्षेत्र में गाँधी जी के सत्याग्रह से प्रभावित थे तो सामाजिक क्षेत्र में उनके धर्म संबंधी विचारों, छूत-अछूत के प्रश्न पर उनके स्टैण्ड, स्त्री-शिक्षा पर उनके विचारों से प्रभावित थे।

प्रेमचंद धर्म-संबंधी गाँधी के चिंतन से बहुत दूर तक सहमत दिखाई देते हैं। गाँधी की मान्यता थी कि धर्मों को आपस में वैर-भाव नहीं रखना चाहिए। 11 दिसम्बर 1909 को 'इण्डियन ओपिनियन' में गाँधी जी ने लिखा था, "धर्म तो एक ही जगह पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं। ------ अन्य व्यक्ति ऐसे धर्म का पालन करता है जो हमें पसंद नहीं आता, तो इसलिए उसके प्रति वैर-भाव रखना उचित नहीं है। हमें उसके साथ जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए।"[48] 28 अक्टूबर 1911

को उन्होंने 'इण्डियन ओपिनियन' में लिखा, "धर्म भले ही अलग-अलग हों, किन्तु एक ही महापुरुष को-एक ही वस्तु को आप अल्लाह के नाम से और मैं ईश्वर के नाम से पूजूँ तो इसमें क्या बुराई है। आप एक ही दिशा में मुँह करके पूँजते हैं और मैं दूसरी दिशा में मुँह करके, तो इसके कारण आपसे क्यों वैर बाँधू।"[49] इस विषय पर प्रेमचंद का विचार इस प्रकार से है, "तो भी यह कह देना उचित समझते हैं कि जब उपासना एक ही परमात्मा की है और केवल बाह्य रूप में तो केवल हिन्दू लोग क्यों इसकी राह देखें कि जब मुसलमान हमारे धर्म का आदर करेंगे तो हम भी उनके धर्म का आदर करेंगे। अगर धर्म का आदर करना अच्छा है तो हर हालत में अच्छा है। इसके लिए किसी शर्त की ज़रूरत नहीं। अच्छा काम करने वाले को सब अच्छा कहते हैं।"[50] यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रेमचंद का यह कथन फरवरी, 1924 का है। वे गाँधी के विचारों को अपनी समझ से प्रस्तुत कर रहे थे। उनकी अपनी इतिहास दृष्टि थी।

9 नवम्बर 1907 को गाँधी जी ने 'इण्डियन ओपिनियन' में लिखा, "हर धर्मवाले यदि अपने-अपने धर्म का सच्चा रहस्य समझ जाएँ तो आपस में द्वेष नहीं कर सकते।"[51] लेकिन धर्म और मनुष्य - दोनों के दुर्भाग्य से द्वेष पैदा करने वाले आ ही जाते हैं। वे अपना हित साधने के लिए मनुष्यों का नुकसान ही करते हैं। गाँधी जी को इसका दुःख था कि धर्म-प्रचारक और धर्म के नाम पर राजनीति करने वाले इसका स्वरूप ही दूसरा कर डालते है कहने का तात्पर्य यह है कि विद्रूप ही बनाकर छोड़ते है। प्रेमचंद का मानना था कि, "दुर्भाग्य से वर्तमान समय में धर्म विश्वासों के संस्कार का साधन नहीं, राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि का साधन बना लिया गया है। उसकी हैसियत पागलपन की-सी हो गई है; जिसका वसूल है कि सब कुछ अपने लिए दूसरों के लिए कुछ भी नहीं।"[52] उन्होंने अपनी कहानियों जिहाद, हिंसा परमो धर्मः, आदि में धर्म की विकृतियों का गंभीरता से चित्रण किया है। स्वाधीनता आंदोलन को ध्यान में रखते हुए उन्होंने हिन्दुओं मुसलमानों को एक ही नाव का सवार कहा था।[53] उनके लिए भारत में धर्म की समस्या एक साथ सामाजिक और राजनीतिक समस्या थी। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की सफलता को ध्यान में रखकर वे गाँधी जी के धर्म संबंधी विचारों को पूरा समर्थन कर रहे थे। गाँधी जी ने कहा था, "जो मनुष्य अपनी बुद्धि और मस्तिष्क का उपयोग नहीं करता और बाढ़ के पानी में लकड़ी की तरह बहता रहता है, वह नीति को कैसे समझेगा? [54] प्रेमचंद अपनी कहानी 'जिहाद' में 'ख़ज़ा' नामक पात्र के माध्यम से कहलवाते हैं, "अगर तुम मुझे काफी समझते हो तो समझो। मैं अपने को तुमसे ज्यादा खुदापरस्त समझता हूँ। मैं उस धर्म को मानता हूँ, जिसकी बुनियाद अक्ल पर है।"[55]

संदर्भ-सूची

1-आधुनिक भारत - सुमित सरकार, पृष्ठ - 17

2-रे को डफरिन का पत्र , 17 मई 1885

3-इण्डिया, लंदन 1888 ई में

4-विविध प्रसंग भाग-2, अमृतराय ; पृष्ठ - 311

5-History of the Indian Association – I. C. Badal ; Page – 80

6- India Today – R. Palme Dutt ; Page – 256

7-- India Today – R. Palme Dutt ; Page – 259

8-विविध प्रसंग, भाग-दो ; अमृतराय , पृष्ठ-311

9-The British Paramountcy and Indian Renaissence ; Part-II - Page – 535

10- The British Paramountcy and Indian Renaissence ; Part-II - Page – 552

11- The British Paramountcy and Indian Renaissence ; Part-II - Page – 552

12- The British Paramountcy and Indian Renaissence ; Part-II - Page – 552

13- विविध प्रसंग भाग-दो ; अमृतराय ; पृष्ठ - 254

14- History of the Freedom Movement - R. c. Majumdar ; Page – 19

15- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page – 18

16- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page –10

17- Sprit of Indian Nationalism – B. C. Bal ; Page-73

18- Sprit of Indian Nationalism – B. C. Bal ; Page-70

19- काँग्रेस का इतिहास भाग-1 ; पृष्ठ-84

20- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page –176

21- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page –176-77

22- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page –178-79

23- India Today – R. Palme Dutt ; Page – 273

24- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page-160-61

25- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page-286

26- S.B.I.N. – A. R. Desai ; Page-301-02

27- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page-173

28- काँग्रेस का इतिहास भाग-1 ; पृष्ठ-66

29- काँग्रेस का इतिहास भाग-1 ; पृष्ठ-66

30- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page-187

31- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page-187

32- A Sketch of the History of India - Henery Dodwell ; Page-272-73

33- A Sketch of the History of India - Henery Dodwell ; Page-273

34- History of the Freedom Movement - R. C. Majumdar ; Page-278

35- A Sketch of the History of India - Henery Dodwell ; Page-281

36- काँग्रेस का इतिहास भाग-1 ; पृष्ठ-23

37- India Today – R. Palme Dutt ; Page –274

38- India Today – R. Palme Dutt ; Page – 274

39- पत्रिका - हंस : संपादक - प्रेमचंद ; अप्रैल 1936

40- पत्रिका - हंस : संपादक - प्रेमचंद ; मई 1936

41- पत्रिका - हंस : संपादक - प्रेमचंद ; सितम्बर 1936

42- पत्रिका - हंस : संपादक - प्रेमचंद ; सितम्बर 1936

43- पत्रिका - हंस के 'प्रेमचंद-स्मृति-अंक' : संपादक - प्रेमचंद

44- प्रेमचंद और उनका युग : डॉ रामविलास शर्मा ; पृष्ठ-135

45- प्रेमचंद और उनका युग : डॉ रामविलास शर्मा ; पृष्ठ-135

46- प्रेमचंद और उनका युग : डॉ रामविलास शर्मा ; पृष्ठ-140

47- भारतीय राष्ट्रवाद और प्रेमचंद : जितेन्द्र श्रीवास्तव ; पृष्ठ-104

48- गाँधी वाङ्मय, 11 दिसम्बर 1909 - 'इण्डियन ओपिनियन'

49- गाँधी वाङ्मय, 28 अक्टूबर 1911 - 'इण्डियन ओपिनियन'

50- विविध प्रसंग, भाग-2 ; पृष्ठ-352 'मनुष्यता का अकाल'

51- गाँधी वाङ्मय, 9 नवम्बर 1907 - 'इण्डियन ओपिनियन'

52- विविध प्रसंग, भाग-2 ; पृष्ठ-355 'मनुष्यता का अकाल'

53- विविध प्रसंग, भाग-2 ; पृष्ठ-368 'मिर्जापुर कांफ्रेन्स में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव'

54- गाँधी वाङ्मय, 9 नवम्बर 1907 - 'इण्डियन ओपिनियन'

55- मानसरोवर, खण्ड-7 ; पृष्ठ-128

૧૯૦૭